प्लेटफॉर्म पर खड़ी एक महिला

रस्किन बॉण्ड

बोर्डिंग स्कूल में यह मेरा दूसरा साल था। मैं अम्बाला स्टेशन के प्लेटफॉर्म नं. 8 पर बैठे-बैठे, उत्तर की ओर जाने वाली गाड़ी का इन्तज़ार कर रहा था।

उस वक्त मैं शायद बारह साल का रहा होऊंगा। मेरे माता-पिता मुझे अकेला सफर करने लायक समझते थे। मैं शाम को ही बस से अम्बाला पहुंच गया था। अब यहां आधी रात तक ट्रेन का इंतज़ार करना था। मेरा काफी वक्त प्लेटफॉर्म पर टहलते, किताबों के स्टॉल पर किताबों के पन्ने पलटते और फिर कुत्तों को बिस्कुट खिलाने में निकल गया। गाड़ियां आतीं और चली जातीं। प्लेटफॉर्म कुछ समय के लिए शांत रहता, फिर कोई गाड़ी आती तो शोरगुल शुरू हो जाता; लोगों का आना-जाना चालू हो जाता। हर बार जैसे ही गाड़ी के दरवाज़े खुलते, लोगों का एक रेला-सा आता और कुछ घबराए, कुछ बौखलाए, गेट पर खड़े टी. सी. को बहा ले जाता। उसके साथ-साथ मैं भी इसी भीड़ के बहाव में फंसकर

स्टेशन के बाहर पहुंच जाता।

आखिरकार इस खेल से और स्टेशन पर घूमने से तंग आकर मैंने अपना सूटकेस नीचे रखा और उस पर बैठ गया, रेल की पटरियों के पार, कहीं दूर नज़रें टिकाए। मेरे सामने से खूब सारे ठेले गुज़रते जा रहे थे। कानों में दही, शरबत, मिठाई, और अखबार बेचने वाले लड़कों – सभी की आवाज़ें लगातार गूंज रही थीं। पर मेरी अब इनमें कोई रुचि नहीं रह गई थी। मैं तो बस कुछ ऊबा हुआ, कुछ थका हुआ और अकेला महसूस करता हुआ, शून्य में नज़रें गड़ाए बैठा था।

"बेटा, क्या तुम अकेले हो?" मेरे पीछे से एक धीमी-सी आवाज़ आई।

मैंने ऊपर देखा तो एक महिला मेरे पास खड़ी थी। सादा-सा चेहरा, काली-गहरी आंखें। बिना किसी आभूषण के, वो बस साधारण-सी सफेद साड़ी पहने हुए थी।

"जी, मैं स्कूल जा रहा हूं," मैंने कहा और कहते-कहते खड़ा हो गया। वह गरीब लगती थी, परन्तु इतनी गरिमामयी कि अपने आप आदर का भाव पैदा हो जाए।

"मैं कुछ समय से तुम्हें देख रही हूं। तुम्हारे माता-पिता तुम्हें छोड़ने नहीं आए?"

"मैं यहां नहीं रहता," मैंने कहा। "और वैसे भी, मैं अकेले सफर कर सकता हूं।"

"मुझे यकीन है कि तुम अकेले सफर कर सकते हो," उन्होंने कहा। उनकी यह बात मुझे अच्छी लगी।

उनका साधारण-सा लिबास, गहरी, विनम्र आवाज़ और शांत चेहरा मुझे अच्छा लगा।

"अच्छा बताओ, तुम्हारा नाम क्या है?" उन्होंने पूछा।

"अरुण," मैंने कहा।

"तुम्हें गाड़ी के लिए और कितनी देर रुकना होगा?"

"करीब एक घण्टा शायद। गाड़ी बारह बजे आती है।"

"तो मेरे साथ चलकर कुछ खा लो, आओ।"

मैं शक एवं शर्म के कारण मना करने वाला था। पर उन्होंने मेरा हाथ पकड़ लिया और मुझे लगा कि अब हाथ छुड़ाना अच्छा नहीं लगेगा। एक कुली से मेरे सूटकेस का ध्यान रखने के लिए कहकर, वे मुझे प्लेटफॉर्म पर आगे ले गईं।

मेरे हाथ पर उनकी पकड़ न तो बहुत ढीली थी और न बहुत मज़बूत। मैंने फिर उनकी तरफ देखा। वे जवान

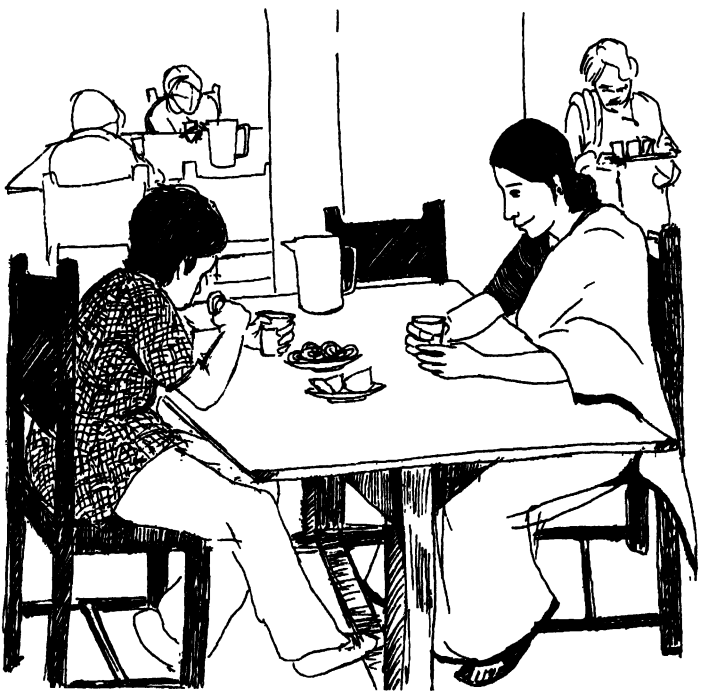

नहीं थीं और बूढ़ी भी नहीं थीं। तीस से तो ज़्यादा की होंगी; लेकिन अगर वे पचास की होतीं, तो भी शायद ऐसी ही दिखतीं।

वे मुझे स्टेशन की कैंटीन में ले गईं और वहां उन्होंने चाय, समोसे और जलेबी मंगवाई। मुझे अब उतना अटपटा नहीं लग रहा था और इस महिला के प्रति अब मेरी रुचि भी जागृत हो गई थी। इस अनोखी मुलाकात का मेरी भूख पर कोई असर नहीं पड़ा था। बिना भुक्खड़ दिखे जितना खा सकता था मैंने खा लिया। मुझे खाते देख उन्हें बड़ा आनंद आ रहा था। शायद खाने की वजह से ही हमारी दोस्ती पक्की हो गई। खाते-खाते मैं आराम से खुलकर बातें करने लगा। मैंने उन्हें अपने स्कूल, दोस्तों,

पसंद-नापसंद सबके बारे में बताया। बीच-बीच में वे धीरे से कोई सवाल पूछ लेतीं। पर ज्यादा समय वे मेरी बातों को सुनती रहीं। उन्होंने मेरी झिझक तो भूला ही दी थी और साथ-साथ यह भी भुला दिया कि हम अजनबी थे। उन्होंने मेरे परिवार के बारे में कुछ नहीं पूछा, न ही घर के बारे में और मैंने भी उनसे इस तरह का कोई सवाल नहीं किया। वे जैसी थीं, मैंने उन्हें वैसे ही स्वीकार कर लिया था। शांत और नम्र स्वभाव वाली एक महिला, जिन्होंने रेल्वे प्लेटफॉर्म पर एक अकेले लड़के को समोसे और जलेबियां खिलाई थीं।

लगभग आधे घंटे बाद, हम कैंटीन से निकले और वापस प्लेटफॉर्म पर आ गए।

आठ नम्बर प्लेटफॉर्म के साथ की पटरी पर एक इंजन डिब्बों को इधर-उधर ले जाता हुआ आ-जा रहा था। जैसे ही इंजन सामने से गुज़रा, एक लड़का प्लेटफॉर्म से लपककर पटरियों को पार करने लगा। उसे दूसरे प्लेटफॉर्म तक जाना था। वह इंजन से काफी दूर था और अगर वह बिना गिरे पहुंच जाता तो उसकी जान को कोई खतरा भी नहीं था। पर उसके लपकते ही उस औरत ने मेरी बांह को ज़ोर से पकड़ लिया। उनकी उंगलियां इतने ज़ोर से गड़ रहीं थीं कि दर्द के मारे मेरी झुरझुरी छूट गई।

मैंने उनकी उंगलियों पर अपना हाथ रख दिया। उन्हें देखा तो उनके चेहरे पर दर्द, डर और उदासी की एक लहर-सी दौड़ गई थी। उन्होंने उस लड़के को दूसरे प्लेटफॉर्म पर चढ़ते देखा और फिर उस प्लेटफॉर्म की भीड़ में गुम होते। तब जाकर उनकी जान में जान आई और उन्होंने मेरी बांह छोड़ी। मुझे दिलासा देते हुए फिर मेरा हाथ पकड़ लिया, पर उनके हाथ कांप रहे थे।

"वो ठीक है," मुझे लगा कि दिलासे की ज़रूरत उन्हें है।

वे कृतज्ञता से मुस्कुराईं और मेरा हाथ दबाया। हम चुपचाप चलते हुए वहीं पहुंच गए जहां मैंने अपना सूटकेस रखा था। वहां पहुंचकर देखा कि मेरी ही स्कूल का एक और लड़का सतीश, जो मेरी ही उम्र का था, अपनी मां के साथ वहां खड़ा था।

"अरे अरुण!" उसने आवाज़ दी, "आज भी ट्रेन लेट है, हमेशा की तरह। क्या तुम्हें पता है इस साल नए हेड-मास्टर आने वाले हैं स्कूल में?"

हमने हाथ मिलाए। फिर उसने अपनी मां से कहा, "मां, यह अरुण है, मेरा दोस्त भी और कक्षा का सबसे

बढ़िया गेंदबाज़ भी।"

"बहुत खुशी हुई यह जानकर," उसकी मां ने कहा। वे बड़े-से चश्मे वाली रोबीली महिला थीं। उन्होंने मेरा हाथ पकड़े हुए औरत की ओर देखा और पूछा, "आप अरुण की मां हैं?"

मैंने कुछ कहने के लिए मुंह खोला ही था, पर इससे पहले ही उन्होंने हामी भरते हुए कहा, "हां, मैं अरुण की मां हूं।"

मैं कुछ न कह पाया। मैंने उनकी ओर देखा, पर उन्हें बिल्कुल भी अजीब

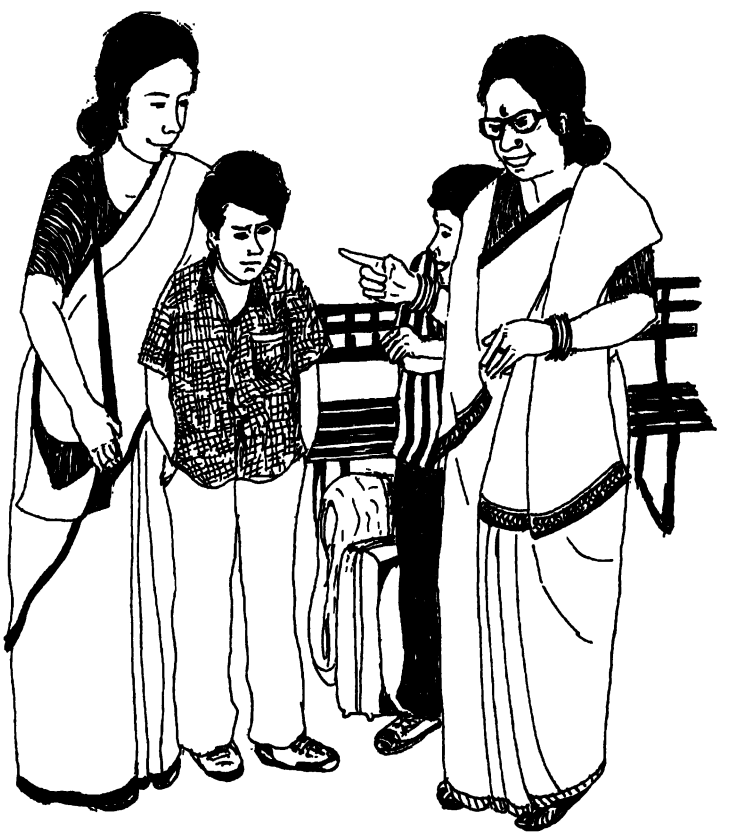

नहीं लग रहा था और वे मुस्कुरा रही थीं।

सतीश की मां बोली, "आधी रात तक ट्रेन का इंतज़ार करना तो खासा सिरदर्द ही है। पर बच्चे को अकेला भी तो नहीं छोड़ सकते। इतने बड़े स्टेशन पर कुछ भी हो सकता है। इतने अजीब लोग घूमते रहते हैं। आजकल अनजान लोगों से तो बचकर ही रहना चाहिए।"

"वैसे अरुण अकेले सफर कर सकता है," मेरे साथ खड़ी औरत ने कहा। और मैं उनकी इस बात के लिए शुक्रगुज़ार था। झूठ बोलने के लिए मैं मन-ही-मन उन्हें माफ भी कर चुका था। वैसे भी सतीश की मां मुझे अच्छी नहीं लगी थीं।

"अरुण, सावधान रहना," उन्होंने मुझे अपने चश्मे में से देखते हुए कहा। "अजनबियों से तो कभी बात भी न

करना और जब मां साथ न हो, तो अपना विशेष ध्यान रखना।''

मैंने उन्हें देखा, फिर उस औरत को देखा जिसने मुझे चाय और नाश्ता खिलाया था, और फिर वापस सतीश की मां को देखा। मैंने कहा, ''लेकिन मुझे अजनबी पसंद हैं।''

सतीश की मां को थोड़ा धक्का तो लगा, क्योंकि उन्हें बच्चों से जवाब सुनने की आदत नहीं थी। ''ये लीजिए, अगर सारा समय ख्याल न रखो, तो किसी झमेले में पड़ जाएं,'' उन्होंने मेरी तरफ उंगली तानते हुए कहा, ''हमेशा अपनी मां की बात सुनना, और अजनबियों से कभी बात मत करना।''

मैंने उनकी ओर गुस्से से देखा और अपनी 'मां' के थोड़ा और पास खिसक गया। सतीश अपनी मां के पीछे खड़ा, मुझे देखकर हंस रहा था और यह सब देखकर उसे बहुत खुशी हो रही थी। शायद वो भी मेरे पक्ष में था।

स्टेशन की घंटी बजी। अभी तक जो लोग आराम से प्लेटफॉर्म पर बैठे थे, वे सब उठकर चलने-फिरने लगे।

''गाड़ी आ गई,'' सतीश ने कहा। इंजन की सीटी सुनाई दी और उसकी रोशनी पटरियों पर पड़ रही थी।

ट्रेन प्लेटफॉर्म पर आई और छुक-छुक करते इंजन ने ढेर सारी भाप छोड़ी।

जैसे ही ट्रेन रुकी, सतीश लपक कर एक डिब्बे में चढ़ गया और बोला, ''चलो अरुण, यह डिब्बा खाली है।'' मैंने भी अपना बैग उठाया और दरवाज़े की ओर दौड़ा।

हम दोनों दो खुली खिड़कियों के पास बैठ गए। दोनों औरतें बाहर प्लेटफॉर्म पर खड़ीं हमसे बातें करती रहीं। सतीश की मां ही ज़्यादा बोल रही थीं।

उन्होंने कहा, ''जैसे अभी चलती ट्रेन में चढ़ गए, फिर ऐसे मत करना। खिड़की के बाहर सिर मत निकालना और रास्ते भर कुछ भी मत खाते रहना।'' यह नसीहत वे मुझे भी दे रही थीं क्योंकि शायद मेरी 'मां' ऐसा कहेगी इसकी उन्हें उम्मीद नहीं थी। उन्होंने सतीश को फल का एक झोला, एक बल्ला और चॉकलेट का एक डिब्बा थमाया और मेरे साथ बांटकर खाने को कहा। फिर थोड़ा पीछे होकर खड़ी हो गईं, देखने के लिए कि अब मेरी 'मां' क्या कहती है।

मुझे सतीश की मां के व्यवहार पर थोड़ा गुस्सा आ रहा था। वे तय कर चुकी थीं कि मेरा परिवार काफी गरीब है; और मैं उस दूसरी औरत की सच्चाई नहीं बताना चाहता था। मैंने उन्हें मेरा

हाथ पकड़ने दिया, पर कुछ कह न सका। मैं भली-भांति जानता था कि सतीश की मां हमें घूर रही हैं और उनके प्रति मेरी नफरत एकदम बढ़ती जा रही थी। इतने में गार्ड ने प्लेटफॉर्म पर आकर सीटी बजा दी। मैंने उस औरत की आंखों में देखा – वे मुस्कुरा रही थीं – जैसे सब समझ रही हों। मैंने खिड़की के बाहर सिर निकाला और उनके गाल को चूम लिया।

डिब्बा हल्के से झटके के साथ चलने लगा और उन्होंने अपना हाथ पीछे खींच लिया।

"टाटा मां!" सतीश ने कहा। ट्रेन धीरे-धीरे से स्टेशन के बाहर खिसकने लगी थी। सतीश और उसकी मां एक-दूसरे को हाथ हिला रहे थे।

मैंने उस औरत से कहा, "टाटा, मां..." मैंने हाथ नहीं हिलाया, न ही मैं चिल्लाया। बस खिड़की में से उस औरत की ओर देखता रहा, जो प्लेटफॉर्म पर खड़ी थी। सतीश की मां उनसे कुछ कह रही थी, पर उनका ध्यान बातों में नहीं था। वे मुझे देख रही थीं। सफेद कपड़े पहने वह औरत प्लेटफॉर्म पर खड़ी थी; और मैं उन्हें देखता रहा, जब तक कि वे नज़रों से ओझल नहीं हो गईं।

रस्किन बॉण्ड 1934 में हिमाचल के कसौली कस्बे में पैदा हुए थे और जामनगर (गुजरात), देहरादून और शिमला में बड़े हुए। पैंतीस साल के उनके लिखने के केरियर के दौरान उन्होंने सौ से ज़्यादा कहानियां व बच्चों के लिए तीस से ज़्यादा किताबें लिखीं। उन्हें 1992 में साहित्य अकादमी पुरस्कार भी मिला।

अनुवाद: शिवानी बजाज। दिल्ली स्थित 'निरंतर' संस्था के साथ काम करती हैं।

चित्र: विप्लव शशि। वड़ोदरा में चित्रकला का अध्ययन कर रहे हैं।